इकाई 27 सुधार आंदोलन-II

इकाई की रूपरेखा

27.0 उद्देश्य

यह इकाई पिछली इकाई के ही निरंतरता में है। इसके अध्ययन से आप

- सुधार संबंधी विचारों को प्रतिष्ठित करने के लिए 19वीं सदी बौद्धिकों द्वारा अपनाई गई विधियों
- सुधार-आंदोलन की अवधि में उठाये गये मसलों और विचारों
- उस समय सामने आने वाले अवरोधों तथा
- इन बौद्धिकों के प्रयासों की सीमाओं व त्रुटियों के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।

27.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपका परिचय 19वीं सदी भारत के बौद्धिक सुधारकों द्वारा व्यक्त संस्कृति एवं समाज संबंधी कतिपय विचारों से कराया गया था। सुधार-आंदोलन के रूप में उल्लिखित इन विचारों तत्कालीन समाज पर प्रभाव की जानकारी भी आपको हो चुकी है। इस इकाई में उन्हीं सूत्रों को आगे बढ़ाते हुए आंदोलन के लक्ष्यों और विधियों की चर्चा की गई है, जिनके माध्यम से नई समाज-व्यवस्था की प्रतिष्ठा का प्रयास किया गया था। इन बौद्धिक प्रयासों की प्रकृति और सीमाओं तथा परवर्ती काल में राष्ट्रवादी चिंताधारी के विकास में इसके योगदान का समुचित सर्वेक्षण ही इस इकाई का मुख्य विषय बनेंगे।

27.2 भविष्य-दृष्टि

सुधार आंदोलनों का समग्र उद्देश्य सामाजिक सुख-लाभ, जनहित की सिद्धि तथा राष्ट्रीय प्रगति था। सामाजिक मुक्ति के लिए बौद्धिकों ने सत्य, समभाव और न्यायिकता पर बल दिया, भावी भारत के नियामक मूल्यों के रूप में। म. गो. रानाडे ने लिखा था:

> "जिस प्रकार के विकास के लिए हम लालायित/प्रयासशील हैं, वह एक परिवर्तन की प्रक्रिया है, बंधनों से मुक्ति की ओर, भोलेपन से आस्था की ओर, पद-प्रतिष्ठा से अनुबंध, आधिकारिक दंभ से विवेकचेतना, असंगठित जीवन, कट्टरता से सहिष्णुता की ओर तथा अंध नियतिवाद से मानवीयगरिमा के स्रोतों की दिशा में।"

27.3 सुधार-आंदोलनों की विधि

बौद्धिकों ने सम्यकज्ञान को विशेष महत्व दिया था। अनभिज्ञता को अभिशाप माना गया था और इसको भारतीय समाज में व्याप्त अंधविश्वासों तथा रूढ़िवादिता का मूल कारण बताया गया था। सामान्य सामाजिक, विशेषकर महिलाओं को अशिक्षा के राष्ट्रीय पतन एवं पिछड़ेपन के लिए जिम्मेदार ठहराया गया। इसलिए शिक्षा के प्रचार-प्रसार को सुधार-योजनाओं के अंतर्गत प्राथमिकता दी गई। लगभग सारे बौद्धिकों ने सारी समस्याओं का एकमात्र समाधान शिक्षा को माना था। सामाजिक रूपांतरण एवं राष्ट्रीय पुनर्रचना की प्रक्रिया में ज्ञान की केन्द्रीय भूमिका में आस्था उन्नीसवीं सदी चिंतन की महत्वपूर्ण विशेषता थी।

अंग्रेजी शिक्षानीति में सन्निहित सिद्धांत मुख्यत: अंग्रेजी उपनिवेशवाद की आवश्यकताओं से परिचालित था। अंग्रेजी शासन के अधीन 19वीं सदी में विकसित शैक्षिक संस्थाओं में विज्ञान एवं तकनीकी नहीं, क्लासिकीय एवं कला पाठ्यक्रमों पर बल दिया गया था। अंग्रेजी शिक्षानीति देश के भौतिक विकास को लक्षित नहीं थी। फलस्वरूप, विज्ञानशिक्षण को बहुत कम महत्व दिया गया। इसके विपरीत, उपरोक्त बौद्धिकों को शैक्षिक योजना का लक्ष्य बना देश का भौतिक विकास किया।

वे विद्यमान शैक्षिक ढांचे के अंतर्गत उच्चजातियों का विशेषाधिकार खत्म करने के पक्ष में थे। किसी विशेष उच्चजातीय व्यक्तियों की ज्ञान क्षेत्र में इजारेदारी का विरोध करते हुए उन्होंने समाज के सभी तबकों में ज्ञान के प्रसार का प्रस्ताव किया। व्यापक जनशिक्षा के उद्देश्य को व्यावहारिक रूप देना उनका सतत् सरोकार बना रहा। जनशिक्षा के लक्ष्य को साकार करने के लिए परमानंद ने प्राथमिक स्तर तक नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का समर्थन किया।

लगभग सभी सुधारकों ने भारतीय भाषाओं के विकास पर बल दिया। जनशिक्षा के लक्ष्य को मूर्त रूप देना आवश्यक माना गया। उनके विचार से शिक्षा-माध्यम के रूप में अंग्रेजी-भाषा किसी भी प्रकार की सार्थक प्रगति के लिए प्रभावी साधन नहीं हो सकती थी। इसलिए अंग्रेजी शिक्षा का भूमिका को भारतीय भाषाओं के संपूरक, संवर्धक रूप में ही देखा जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, यह सामाजिक परिवर्तन में सहायक मात्र, मुख्य साधन नहीं बन सकती थी। रानाडे ने भारतीय भाषाओं की उपेक्षा के लिए औपनिवेशिक नीति की कटु आलोचना की।

इन बौद्धिक सुधारकों का दूसरा महत्वपूर्ण सरोकार था महिला-शिक्षा इस पर "सभी प्रकार के सुधारों एवं विकास के मूल" के रूप में बल दिया गया। महिलाओं के बीच अशिक्षा को उनकी दयनीय स्थिति तथा सामान्य सामाजिक पिछड़ेपन का प्रमुख कारण माना गया। महिलाओं के लिए उन्होंने न केवल प्राथमिक शिक्षा, बल्कि उच्चशिक्षा का भी समर्थन किया। उन्नीसवीं सदी बौद्धिकों में आगरकर ही थे, जिन्होंने सबसे पहले नौकरियों तथा विभिन्न उद्यमों के लिए महिलाओं की शिक्षा का विचार रखा और घर की चारदीवारी के बाहर महिलाओं की भूमिका बढ़ाने पर बल दिया।

इस प्रकार बौद्धिक सुधारकों का शैक्षिक कार्यक्रम/अभियोजन अंग्रेजी शिक्षानीति के ठीक प्रतिकूल था। अंग्रेजी शिक्षानीति प्रशासनिक लक्ष्यों से जुड़ी थी, जबकि सुधारकों के शैक्षिक प्रस्ताव जनसमुदाय एवं समूचे समाज की ओर उन्मुख थे। औपनिवेशिक शासन के आधीन जनसमुदाय के बीच अधिकारिक बढ़ती निर्धनता ने व्यापक जनशिक्षा के विचार को मूर्तरूप देने की संभावना खत्म कर दी। व्यापक जनशिक्षा कार्यक्रम को नये भारतीय मध्यम वर्ग का बहुत कम समर्थन अथवा सक्रिय सहयोग मिला।

27.4 आंदोलन की प्रकृति

विद्यमान सामाजिक-सांस्कृतिक बुराइयों और कुरीतियों जैसे रूढ़िवादिता अंधविश्वास और अविवेक को अत्यंत तीखे बौद्धिक प्रहार का निशाना बनाया गया। बौद्धिकों ने समूची सामाजिक व्यवस्था पर ही प्रहार नहीं किया। उनका प्रहार समाज में व्याप्त विकृतियों और विद्रूपताओं पर केन्द्रित था। उन्होंने देश में विद्यमान सामाजिक ढांचे से आत्यंतिक विच्छेद का पक्ष नहीं लिया। वे पथागत रूपांतरण के पक्ष में नहीं थे, बल्कि विद्यमान ढांचे के ही

अंतर्गत परिवर्तन का प्रयास किया गया। संक्षेप में, वे सुधारों के पक्षधर थे, न कि क्रांति के प्रवक्ता।

महिलाओं की स्थिति में सुधार, अधिक आयु में विवाह, एक-विवाह, विधवा-विवाह, जातिगत भेदभाव का उन्मूलन, एकांतवाद (एकश्वरवाद) इत्यादि समाज में किसी क्रांतिकारी परिवर्तन के प्रतीक नहीं बने। ये बौद्धिक सुधारक स्वयं अपने विचारों व प्रयासों की सुधारवादी प्रकृति से अनभिज्ञ नहीं थे। उन्होंने सचेत रूप से ही परिवर्तन के लिए क्रांतिकारी रास्ते को छोड़कर विकासक्रमिक रास्ते को अपनाया। लगभग सभी क्रमिक रूपांतरण की प्रक्रिया में विश्वास करते थे। इस प्रकार, सामाजिक रूपांतरण संबंधी उनके अभियोजन में परिवर्तन तथा निरंतरता दोनों ही आधारभूत तत्व थे।

यह बौद्धिक आंदोलन मुख्यतः नगर-केंद्रित था, यह नगरों से ही उभरा और उन्हीं क्षेत्रों में मुख्यतया चलाया गया। विचारों के प्रसार तथा अनुकूल जनमत तैयार करने के लिए अपनाये गये मुख्य साधन थे शहरी संप्रेषण माध्यम जैसे प्रेस, व्याख्यान मालायें तथा सभाएं, प्रचार-मंडलियां।

स्थानविशेष से जुड़े होने के बावजूद अपनी प्रेरणाओं और आकांक्षाओं में यह क्षेत्रीय नहीं था। यद्यपि उनके क्रियाकलाप किन्हीं शहरी इलाकों तक सीमित रहे, बौद्धिकों के दृष्टिबोध के अंतर्गत विभिन्न क्षेत्रों तथा समूचे देश की समस्याएं आती थीं। और फिर उन्होंने सचेत रूप से आंचलिकतावादी विचारों तथा क्षेत्रीय विभेदों को खत्म करने का सचेत प्रयास किया।

27.4.1 सामाजिक प्रश्न

लगभग सारे बौद्धिकों का सामान्य निष्कर्ष था कि भारत में महिलाओं की स्थिति शोचनीय एवं दारूण थी। उनकी दयनीय दशा को उस समय की अत्यंत प्रमुख समस्या माना गया। बालविवाह, विधवा जीवन की बाधता, बहु-विवाह, महिलाओं का अलग-थलग रखा जाना, वेश्यावृत्ति महिलाओं के उत्पीड़न ही शोषण के मूल कारण थे। उनके विचारों में, बालविवाह अन्य सामाजिक बुराइयों एवं अन्याय की जड़ था। बालविवाह के ही कारण अल्पायु में स्त्रियां विधवा होती थीं और बहु-विवाह को बढ़ावा मिलता था। बहु-विवाह को "नैतिकभौतिक सभी बुराइयों का स्रोत, बर्बर आदिम आवश्यकताओं का अवशेष चिन्ह" माना गया। सती-प्रथा का समाधान 1829 में उसके वैधानिक उन्मूलन से किया गया, लेकिन अन्य अनेक समस्याएं बनी रहीं।

4. सती का एक दृश्य

बुद्धिजीवियों ने विधवाजीवन बिताने की बाध्यता एवं बहुविवाह को मानवता के विरुद्ध अपराध की संज्ञा दी। उसे मानवीय पतनशीलता पर आधारित तथा बर्बरता एवं निम्न सामाजिक विकास का प्रतीक ठहराया। ''लोकहितवादी'' के शब्दों में:

> ''विधवापन की बाध्यता मानवीय जीवन की हत्या है। यह मानवीय इच्छाओं, अनुभूतियों और संवेदों का वध करने जैसा है। आप अपनी ही बेटियों की नृशंस हत्या करने में लगे हैं। क्या आप का खून क्रोध से खौल नहीं उठता?''

राममोहन, जांभेकर और लोकहितवादी महिलामुक्ति के प्रश्न पर अन्यों की अपेक्षा विशिष्ट रूझान रखते थे। राममोहन ने सम्पत्ति संबंधी अधिकारों के अभाव को ही समाज में महिलाओं की निम्न स्थिति का मूल कारण बताया और उन्हें ये अधिकार दिए जाने की मांग की। जांभेकर और लोकहितवादी ने भी महिलाओं की समस्या का स्थायी समाधान एक विवाह और विधवाविवाह में नहीं, पुरुषों के समान ही उनको अधिकार दिए जाने में देखा। समान अधिकारों की मांग उन्नीसवीं सदी चिंतन का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू था। लगभग सभी बुद्धिजीवियों ने महिलाओं के बीच शिक्षा-प्रसार को उनकी मुक्ति के लिए आवश्यक पूर्वशर्त माना। महिलाओं के प्रश्न पर मानवतावादी परिप्रेक्ष्य से विचार किया गया था। इस प्रकार, उनकी मुक्ति को केवल उन्हीं की मुक्ति नहीं, बल्कि समूची मानवता की मुक्ति माना गया। बहरहाल, यह मानवतावादी रूझान राष्ट्रीय एवं सामाजिक विकास के सरोकार से जुड़ा था। इन बौद्धिकों के अनुसार, महिलाओं की अधीनस्थ स्थिति सामाजिक पतनशीलता एवं राष्ट्रीय पिछड़ेपन का प्रतीक थी। उनकी स्थिति में सुधार को, समूचे समाज एवं देश की प्रगति के लिए आवश्यक माना गया।

जातिगत भेदभाव की समस्या पर भी प्रहार किया गया। इसे ''मानवीय संबंधों को क्षीण'' तथा भारत में राष्ट्रीय चेतना के विकास को अवरूद्ध करने वाले विभाजक तत्व के रूप में देखा गया। इसे सामाजिक जड़ता और मंद प्रगति का कारक तत्व माना गया। इसीलिए बौद्धिक सुधारकों ने जातिगत कट्टरता से मुक्त समाजव्यवस्था की रचना का प्रयास किया।

ब्राह्मणों की रूढ़िवादिता को, जनसमुदाय के बीच अज्ञान की स्थिति बनाये रखने के उनके प्रयास को ही प्रमुख रूप से सामाजिक पतन का कारण बताया गया। विशेष रूप से फुले तथा चन्दावरकर ने ब्राह्मण वर्चस्व की भर्त्सना करते हुए निचली जातियों तथा दलित वर्गों के उत्थान का पक्ष लिया। ब्राह्मण के विरुद्ध यह संघर्ष अपनी प्रकृति सीधी मुठभेड़ का नहीं था। उन्होंने सचेत रूप से जातिगत शत्रुताभाव से बचने का प्रयास किया।

उन्नीसवीं सदी के सुधारकों को सामान्य रूप से यह बोध था कि समाजसुधारों के आधार के बिना समाज प्रगति नहीं कर सकता। सामाजिक सुधार को राजनीतक स्वतंत्रता, आर्थिक विकास एवं राष्ट्रीय शक्ति-संवर्धन की दिशा में आवश्यक कदम माना गया। इसका एक व्यापकतर उद्देश्य था ''सभी क्षेत्रों में विकास के लिए सभी बाधाओं का उन्मूलन।''

27.4.2 धार्मिक विचार

जैसा हम इकाई 26 में देख चुके हैं, 19वीं सदी के कई विचारकों ने मूर्तिपूजा, बहुदेववाद और जनसमुदाय के धार्मिक मामलों में धर्माध्यक्षों के मध्यस्थता की भर्त्सना की।

लेकिन विद्यमान हिंदू आस्थाओं पर इन बौद्धिकों का प्रहार हिंदू आस्थाओं पर मिशनरियों के प्रहार से बिल्कुल भिन्न था। इन बौद्धिकों ने सुधारों के उद्देश्य से धार्मिक भ्रष्टाचार की भर्त्सना की जबकि मिशनरियों ने धर्मपरिवर्तन के उद्देश्य से हिंदूमत की भर्त्सना की।

राममोहन राय ने ईसाई धर्म अपनाने के बौद्धिक औचित्य को चुनौती दी। उनका तर्क था कि यदि हिंदू धर्म में भ्रष्टाचार का बोलबाला अथवा विवेकशीलता का अभाव है तो ऐसी स्थिति ईसाई धर्म के अंतर्गत भी है। उन्होंने ईसाई आस्थाओं के अंतर्गत मूर्तिपूजा, क्रूसारोपण, चमत्कारों में विश्वास तथा देवमयी की अवधारणा का उल्लेख किया। उनका निष्कर्ष था कि तुलनात्मक दृष्टि में वेदांत का एकेश्वरवाद ईसाई धर्म की देवमयी से बेहतर है। दादोबा ने भी ईसाई आस्थाओं के अंतर्विरोध को उजागर करने का प्रयास किया:

> ''पवित्र देवमयी संबंधी-ईसाई सिद्धांत ईश्वर की एकता के विचार से मेल नहीं खाता, जिसकी घोषणा ईसाई मिशनरी इतनी तत्परता से गैर-ईसाइयों के सामने करते हैं। मेरे लिए एकता में देवमयी के रहस्य में विश्वास करना उतना ही असंभव है, जितना कि एक सेब में तीन सेबों के होने की बात स्वीकार करना, क्योंकि इस प्रकार की अवधारणा ही अपने आप में विरोधाभासपूर्ण है।''

विष्णु बाबा ब्रह्मचारी बंबई में चौपाटी में भाषण करते थे, उनके विचार से ईसाई धर्म की तुलना में हिंदू धर्म को श्रेयस्कर विशेषताओं पर, उन्होंने ईसाई मिशनरियों द्वारा धर्मांताथ के प्रयासों का विरोध किया।

यहां हमारा सरोकार इन सिद्धांतों के सही अथवा गलत होने से नहीं है, फिर भी हम एक बात का ध्यान दिलाना चाहेंगे: धर्मांतरण तथा ईसाई धर्म के प्रभावों के विरुद्ध इन बौद्धिकों का प्रहार अपनी प्रकृति में साम्प्रदायिक नहीं, धर्म-विज्ञान-प्रेरित था। इसका निशाना ईसाई समुदाय नहीं था और न ही इसका मंतव्य था सांप्रदायिक तनाव अथवा वैमनस्य की सृष्टि करना।

दरअसल, उन्नीसवीं सदी के चिंतन में धर्म का एक महत्वपूर्ण स्थान था। बुद्धिजीवियों में धर्म एवं समाज के बीच संबंध और समाज के समुचित विकास के लिए धर्म के महत्व पर ही बल दिया था। इस प्रकार, धार्मिक सुधारों का प्रगति एवं स्थायी सामाजिक परिवर्तन के लिए पूर्णशर्त माना गया था। चंदावरकर के अनुसार, भौतिक जीवन तथा धार्मिक जीवन एक ही अस्तित्व के दो अंत: संबंधित पहलू थे, और सावयव सामाजिक प्रगति संभव नहीं है यदि एकप्रबद्ध धार्मिक आस्था से उसे प्रति संतुलित न किया जाए।

लेकिन इसका आशय यह नहीं कि उन्नीसवीं सदी में सामाजिक सुधारों को तत्कालीन चिंतकों को धार्मिक सुधारों की अपेक्षा गौण स्थान मिला था।

इन बौद्धिकों का धर्म एवं सामाजिक जीवन के बीच जीवन सावयव संबंध में विश्वास था और उन्होंने समूचे समाज के पुनर्नवन का समर्थन किया। रानाडे ने लिखा था:

> "विकास की प्रकृति संरचनात्मक एवं सावयविक है और इसे क्रमश: जैविक संरचना के सभी अंशों में प्रभावी होना चाहिए। '''समूचे अस्तित्व को पुनर्नवन की आवश्यकता है। जिन मुक्ति की आकांक्षा की जानी चाहिए वह जीवन के क्षेत्र विशेष में ही नहीं, समग्र कृति में होनी चाहिए। आप एक उत्तम सामाजिक व्यवस्था नहीं पा सकते यदि आप राजनीतिक अधिकारों के श्रेणीक्रम में नीचे हैं और न आप अपने राजनीतिक अधिकारों का समुचित प्रयोग कर सकते हैं, जब तक कि समाज व्यवस्था विवेक एवं न्यायिकता पर आधारित नहीं है। यदि आप के धार्मिक विचार निम्न कोटि के और पतनशील हैं, आप सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक क्षेत्रों में सफल नहीं हो सकते। यह अंतरनिर्भरता मात्र आकस्मिक नहीं है बल्कि प्रकृति का नियम है।"

बोध प्रश्न 1

1) निम्न वाक्यों को पढ़ें और सही (✓) अथवा (×) के चिन्ह लगाएं।
   i) उन्नीसवीं सदी बौद्धिकों द्वारा सूत्रबद्ध शैक्षिक अभियोजन अंग्रेजी शिक्षानीति से पूर्ण समरूपता में था।
   ii) सुधारक संरचनात्मक परिवर्तनों के पक्ष में नहीं थे, उन्होंने समाज के ढांचे के अंतर्गत ही परिवर्तनों का प्रयास किया।
   iii) सुधारकों द्वारा अपने विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए अपनाए गए साधन मुख्यत: शहरी-संप्रेषण माध्यम थे।
   iv) विद्यमान हिंदू आस्थाओं पर सुधारकों का प्रहार उसी प्रकार का था जैसा कि ईसाई मिशनरियों का।

2) उन्नीसवीं सदी के बौद्धिकों द्वारा समर्थित सुधार आंदोलन की विधियों के बारे में दस पंक्तियां लिखिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

27.4.3 धर्मग्रंथों का उपयोग

विशेषकर उन्नसीवीं सदी के उत्तरार्ध में बौद्धिकों ने सुधारों का धर्मग्रंथों के आधार पर करने का प्रयास किया। उन्होंने हिंदू धर्मग्रंथों के लेखों की पुनरुक्ति एवं पुनर्व्याख्या की सुधारप्रयासों को समुचित सिद्ध करने के लिए। इस सामान्य प्रवृत्ति के एकमात्र अपवाद थे **आगरकर।**

के.टी. तेलंग ने लिखा था :

"शास्त्रों को अपने ही नियमन के विपरीत समाज में घटित हो रहे परिवर्तनों की प्रक्रिया को मूक सहमति देनी पड़ी है। जाति प्रथा के प्रसंग में हम अपने ही प्राचीन धर्मग्रंथों के नियमों से अलग रास्ता चुना है। (उन) धर्मग्रंथों ने प्रारम्भ में केवल चार वर्णों (जातियों) को मान्यता दी थी। हमारी अपनी वर्तमान स्थिति में चार से चार हजार अधिक जातियां हैं जिनमें हिंदू समुदाय विभाजित हैं।"

इस प्रकार हम पाते हैं कि एक ओर बौद्धिकों ने सुधारों के लिए जहां कहीं वांछनीय था, धर्मग्रंथों का समर्थन किया और दूसरी ओर, उनके विसामान्यता को समुचित सिद्ध करने के लिए उनकी उक्तियों की पुनर्मेमांसा की। दरअसल, सुधार आंदोलन के लक्ष्य को आगे बढ़ाने के लिए उन्होंने आवश्यकता एवं वाछनीयता के अनुसार धर्मग्रंथों का दूरदर्शिता से उपयोग किया।

27.4.4 अतीत से संबंध

बौद्धिक चितन की एक विशेष प्रवृत्ति थी विद्यमान सामाजिक बुराइयों और व्यवहारविधियों को परवर्तीकाल में आये विसामान्यता एवं विरूपण के रूप में देखने की। भारतीय इतिहास के बौद्धिक युग को उन्नीसवीं सदी के अनेक चितक वर्तमान समय की सामाजिक-सांस्कृतिक विचित्रताओं से परे/मुक्त एक आदर्श समाज के रूप में देखते थे। [illegible] ने तो यह भी लिखा कि विधवा-विवाह तथा एक विवाह बौद्धिक सामाजिक जीवन [illegible] थे।

फिर भी अतीत से उनका संबंध पुनरुत्थानवादी नहीं था। रानाडे ने स्पष्ट लिखा था :

"राजनीति के क्षेत्र में आज कोई भी पूर्ववर्ती युग के निरंकुशतंत्र और एक व्यक्ति की तानाशाही का समर्थन नहीं करेगा। और न औद्योगिक क्षेत्र में आदिम विधियों/युक्तियों से चिपका रहेगा, पुराने को सुधारने अथवा नये उद्योगों की शुरुआत करने के लिए। इसी प्रकार, सामाजिक क्षेत्र में भी मात्र पुनरुत्थान हमारी आवश्यकताओं को पूरा कर पायेगा।"

दूसरे शब्दों में, वे अतीत की तत्काल पुनरावृत्ति के पक्ष में नहीं, बल्कि वर्तमान की आवश्यकताओं के अनुसार उसमें संशोधन के पक्ष में थे। चंदावरकर ने लिखा था:

"मैं भी अतीत का सम्मान करता हूं, क्योंकि उसके बिना हमारी वर्तमान उपलब्धियां संभव न होती।"

लेकिन यह अतीत का जीवंत पक्ष है जिसको हमें सहेजना है और जिससे हमें अलग नहीं होना है। अतीत से संबंधित कोई चीज जीवन में बने रहने का अधिकार नहीं रखती यदि वह हमारे विकास को अवरुद्ध करती है और हमारी क्षमता को कुंद बनाती है। अतीत से विच्छेद हम नहीं कर सकते, जहां तक कि वह जीवंत, आवश्यक है। लेकिन आज जिस बात की आवश्यकता है वह अतीत का मौखिक समर्थन मात्र नहीं है बल्कि वर्तमान के पक्ष में बोलने की आवश्यकता है। प्राचीनयुग का आदर्श हमारे सामाजिक आदर्शों में से है जिसका संशोधन किया जाना है, पुनरुत्थान नहीं।"

27.5 सीमाएं

इसमें वर्णित 19वीं सदी के उपरोक्त बौद्धिक प्रयास, प्रभाव, व्यापकता एवं उपलब्धियों की दृष्टि से महत्वपूर्ण सफलता नहीं पा सके। जातिगत विभेद सुदृढ़ बने रहे, और धार्मिक एवं सामाजिक प्रथाओं का अवसान नहीं हुआ। बाल-विवाह तथा विधवाजीवन की बाध्यता उसी प्रकार दुर्दत समस्या बनी रही जैसी कि पहले थी।

बहरहाल, सुधार आंदोलन ने व्यवहारतः एक अल्पसंख्यक समुदाय को ही प्रमाणित किया। बौद्धिकों के विचारों से जनसमुदाय लगभग अछूते बने रहे। निश्चय ही भारतीय/स्थानीय

भाषाओं में उनके लेखन में एक प्रकार का सामूहिक दृष्टिकोण सामने आता है। लेकिन जनसमुदाय को संबोधित करने के अपने श्रेष्ठ प्रयासों के बावजूद भी व्यावहारिक दृष्टियों से उनकी अपील शहरी मध्यम वर्गों, विशेषकर शिक्षाप्राप्त तबकों तक सीमित रहीं।

ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापक अशिक्षा के होते हुए और आधुनिक एवं बहुविध संप्रेषण तंत्र/संचार-प्रणाली के अभाव में यह निश्चितप्राय था कि उन्हें थोड़े से मुख्यत: नगरवासी पाठक/श्रोता मिलें। इस प्रकार व्यावहारिक अपील की दृष्टि से भी आंदोलन, अन्य सीमाओं के अलावा, नगर केंद्रित ही रहा। और फिर, उन्होंने अपने समकालीन सामुदायिक जीवन का सर्वाधिक कठिन कार्य, सामाजिक-सांस्कृतिक सुधार की समस्याओं का दायित्व उठाया था। सांस्कृतिक मसलों में एक बड़ी सीमा तक भावनाओं तथा परंपराबोध का हस्तक्षेप होता है। परंपराएं एक सुदीर्घ क्रम में ही अपना स्वरूप बदलती हैं। मानवीय चेतना से जातिगत एवं रीतिगत प्रभावों का खत्म करना बहुत दुष्कर सिद्ध होता है। राजनीतिक एवं आर्थिक मामलों में तर्कना "सत्ता का अभिकरण" होती है, हो सकती है। लेकिन जहां अनुभूतियों एवं परंपराओं की बात आती है तर्कना लगभग पूर्ण नि:शक्त हो जाती है। सुदीर्घ क्रम में स्थापित रीतियों एवं परंपराओं तथा गहरे पैठे पूर्वग्रहों में परिवर्तन का प्रयास सचमुच बहुत कठिन होता है।

औपनिवेशिक प्रभुत्व की अवधि में जनजागरण प्रयासों ने आंदोलन की सफलता पर कुछ अंतर्निहित सीमाएं आरोपित कीं। अंग्रेजी शासन ने अपने विचारों की आधारभूत आधुनिकता के समुचित बोध में समर्थ व्यापक सामाजिक समुच्चय की रचना नहीं की। व्यापक अशिक्षा का तथ्य उनके लक्ष्यों को साकार करने के सामने एक बड़ी बाधा बना रहा। इसीलिए उनके बौद्धिक विचार एवं क्रियाकलाप सामान्य जनमानस को प्रभावित नहीं कर पाये।

भंडारकर ने लिखा : अंधेरे परिवेश में "दिया जलाने का प्रयास तो किया गया है, लेकिन इसकी लो अभी टिमटिमा रही है।" उनका योगदान यह दिया जलाने में ही है, इसकी मद्धिम रोशनी का कारण उनके नियंत्रण से परे था। स्वयं अपनी भूमिका का मूल्यांकन करते हुए चंदावरकर ने 1886 में कहा था:

> "हमारी दृष्टि में इतना ही पर्याप्त है, हमारे लिए इतना ही पर्याप्त होना चाहिए, यदि हम आश्वस्ति के साथ यह कह सकें कि हम आलसी अथवा अकर्मण्य नहीं बन रहे हैं, बल्कि सचमुच कुछ किया है। भले ही यह समाज सुधार कार्य को हमारी उपलब्धियों से और आगे बढ़ाने की दृष्टि से बहुत कम हो, हम अपने उत्तराधिकारियों द्वारा इसे आगे बढ़ाये जाने में सहायक हुए हैं।"

इन बुद्धिजीवियों को निश्चय ही किन्हीं ठोस उपलब्धियों का श्रेय मिलना चाहिए। उनके सतत् प्रयासों का ही परिणाम था कि उन्नीसवीं सदी में सतीप्रथा का उन्मूलन और विधवा-विवाह का वैधीकरण किया जा सका। **कांसेंट बिल** संबंधी विवाद के दौरान बहुत अधिक बौद्धिक जोशखरोश, सुदीर्घ विरोध-प्रदर्शन और तीखे विचार-विमर्श देखने को मिले। तत्काल कोई ठोस परिवर्तन लाने में असफल रहने के बावजूद इन विवादों में सामान्य चेतना का स्तर आया। समाज में अंधविश्वासों एवं रूढ़िवादिता/कट्टरता का प्रभाव समाप्त करने की प्रक्रिया उनके प्रयासों से अस्तित्व में आई, यह प्रक्रिया कितनी भी धीमी क्यों न रही हो।

बौद्धिकों का अन्य महत्वपूर्ण योगदान महिलाशिक्षा के क्षेत्र में था। स्कूलों में छात्राओं की संख्या में बढ़ोतरी की गति महिलाओं द्वारा अपने ऊपर आरोपित सामाजिक अलगाव की बाध्यता से मुक्ति की शुरुआत की सूचक थी। अधिकाधिक व्यक्ति अब महिलाशिक्षा को किसी भी दृष्टि से अहितकर नहीं मानते थे। इस विकासक्रम के महत्व की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि परवर्ती काल में महिलाएं सार्वजनिक एवं राष्ट्रीय जीवन में सक्रिय भाग लेने लगीं। दरअसल, बीसवीं सदी में महात्मा गांधी को राष्ट्रीय आंदोलन की धारा में ला सके, इसके लिए आधारभूत तैयारी उन्नीसवीं सदी के बौद्धिकों ने ही कर दी थी।

27.6 राष्ट्रवाद की ओर

इन बौद्धिकों के विचार एवं क्रियाकलाप प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में राष्ट्रनिर्माण और राष्ट्रीय पुनर्रचना के कार्यभार से जुड़े थे। वस्तुत: समाजसुधार आंदोलन अलग-थलग प्रक्रिया नहीं थी, व्यापक राष्ट्रीय-राजनीतिक एवं आर्थिक मान्यताएं उसमें संपृक्त थीं।

सांस्कृतिक स्तर पर बौद्धिकों ने एक "राष्ट्रीय संस्कृति" की समुचित परिभाषा के उद्देश्य से संस्कृति में सारभूत और गौण, सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रगतिशील तथा प्रतिगामी तत्वों के बीच विभेद का प्रयास किया। सामान्य रूप से संस्कृति के ही क्षेत्र में हम उस विरोधिता के मूलमंत्र पाते हैं जो अंततः मुक्ति आंदोलन को सुसंघटित एवं विकसित रूप देते हैं। बंकिमचंद्र चटर्जी तथा भास्कर बौद्धिकों की पहली पंक्ति में आते हैं जिसने औपनिवेशिक शासन की समीक्षा की। "लोकहितवादी" ने पहली बार स्वराज की परिकल्पना सामने रखी। अठारहवीं सदी के पांचवें दशक में ही उन्होंने रेखांकित किया था:

> "भारत में अंग्रेजी राज्य शाश्वत नहीं है, पाश्चात्य विज्ञान एवं तकनीकी के अध्ययन से हमें स्वयं को प्रबुद्ध बनाना है। और अंग्रेजों को उन्हीं की तर्कनाओं की जमीन पर परास्त करना है। तभी हम क्रमशः सत्ताधिकार का दावा कर पाएंगे। हमारे असंतोष को कम करने के लिए अंग्रेज कुछ सत्ता हमें भी दे सकती हैं। जैसे-जैसे वे हमें सत्ता सौंपते जाएंगे, यह बात हमारी सत्ताकांक्षा को कम करती जाएगी और फिर अंग्रेज हमारी मांगों के पूरी तरह विरुद्ध हो सकते हैं। अंग्रेजों द्वारा ऐसा किये जाने पर शायद हमें भी वही कुछ करना पड़े जो अमरीकियों ने अंग्रेजों को अपनी भूमि से खदेड़ने के लिए किया।"

लोकहितवादी की राजनीतिक दूरदर्शिता इस बात में देखी जा सकती है कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के उदय से पहले ही उन्होंने इसके वास्तविक विकासक्रम की रूपरेखा सामने रख दी थी।

बोध प्रश्न 2

1) उन्नीसवीं सदी के भारतीय बुद्धिजीवियों द्वारा चलाये गये सुधार आंदोलन की सीमाओं पर दस पंक्तियां लिखिए।

   ....

   ....

   ....

2) सुधार आंदोलन ने राष्ट्रीय आंदोलन के लिए आधार किन अर्थों में तैयार किया? लगभग 150 शब्दों में उत्तर दीजिए।

   ....

   ....

   ....

27.7 सारांश

इकाई 26 और 27 में आप देख चुके हैं कि उन्नीसवीं सदी में विचार के क्षेत्र में कैसे महत्वपूर्ण विकासक्रम सामने उभर रहे थे। इन विचारों में भारतीय समाज की पुनर्रचना की संभावनाएं सन्निहित थीं। उन्होंने विविध सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक प्रश्नों एवं व्यवहार विधियों को सुलझाया। इन विचारों के प्रचार-प्रसार में शिक्षा को एक प्रमुख भूमिका दी गई थी। महिलाओं को उच्च सामाजिक स्थिति दिलाने, धर्म एवं समाज के बीच संबंधों की पुनर्परिभाषा तथा अतीत से विशेषसंबंध बनाये रखने का प्रयास सुधार आंदोलन की प्रमुख विशेषताएं थीं। फिर भी व्यापक और गहराई की दृष्टि से यह आंदोलन अधिसंख्यक ग्रामीण जनसमुदाय तक पहुंचने में असफल रहा और शिक्षित शहरी मध्यम वर्ग तक ही सीमित रहा। सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में कुछ ऐसे अवरोध भी बने हुए थे। जिन्होंने इन विचारों को अप्रतिरोध्य सामाजिक शक्ति नहीं बनने दिया।

उपरोक्त सीमाओं के बावजूद, सुधार आंदोलन की महत्वपूर्ण उपलब्धि राष्ट्रवादी चिंताधारा की दिशा में इसके योगदान के रूप में थी। यद्यपि सुधार आंदोलन प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक मसलों पर केंद्रित नहीं था, इसने राजनीतिक चिंतन एवं पावर्ती भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के लिए समुचित परिदृश्य तैयार किया।

27.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) i) × ii) √ iii) √ (iv) ×
2) अपने उत्तर में आपको सुधारकों द्वारा शिक्षा को दी गई प्रमुखता की चर्चा करनी है। देखिए भाग 27.3

बोध प्रश्न 2

1) अपने उत्तर में आपको इन बातों पर जोर देना है:
   अ) शहरी शिक्षितों से इतर जनसमुदाय को प्रभावित करने में असमर्थता।
   ब) सुधारकों द्वारा प्रहार के बावजूद किन्हीं सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाओं का जारी रहना। और,
   स) अतिव्याप्त अशिक्षा संबंधी अवरोध तथा व्यापक सामाजिक आधार का अभाव। देखिए भाग 27.5
2) देखिए भाग 27.6